जनसत्ता

11 जून, 2019

सजा का सबक

देश को हिला कर रख देने वाले बहुचर्चित कठुआ कांड में सोमवार को विशेष अदालत ने तीन दोषियों को आजीवन कारावास की सुनाई और तीन को पांच-पांच साल की। अर्थ दंड अलग से। इस कांड के एक नाबालिग आरोपी को संदेह का लाभ देते हुए बरी कर दिया गया है। पिछले साल जनवरी में जम्मू-कश्मीर के कठुआ जिले के एक गांव में एक चरवाहा परिवार की आठ साल लड़की की सामूहिक बलात्कार के बाद हत्या कर दी गई थी। लेकिन इस अपराध को जिस तरह से अंजाम दिया गया, वह रोंगटे खड़े कर देने वाला था। यह बच्ची पशुओं को चराने निकली थी, तभी उसे अगवा कर लिया गया। उसे एक मंदिर में कैद रखा गया जहां उसे नशे की दवाएं दी जाती रहीं और उसी हालत में उससे सामूहिक बलात्कार किया जाता रहा। शर्मनाक बात यह है कि इस जघन्य अपराध को अंजाम देने वालों में मंदिर का पुजारी, उसका रिश्तेदार, एक विशेष पुलिस अधिकारी भी था। चार-पांच दिन बाद बच्ची की हत्या कर शव को जंगल में फेंक दिया गया था। ऐसे वाकये मुश्किल से ही सुनने में आते हैं। आज पीड़ित परिवार को जो न्याय मिला है उसकी वजह यह है कि मामला सुर्खियों में आ गया और उसने देश को हिला दिया। देश की सर्वोच्च अदालत तक सक्रिय हुई और मामले की सुनवाई पठानकोट में विशेष अदालत में करवाई गई। वरना जिस बेहद गरीब तबके से यह खानाबदोश परिवार आता है उसके लिए तो न्याय के लिए गुहार लगा पाना भी शायद संभव नहीं होता। यह घटना देश, केंद्र और राज्य की सरकारों, समाज सबके लिए शर्मनाक थी।

अब फैसला आ गया और दोषियों को सजा भी हो गई। लेकिन इस घटना में जो कुछ हुआ और जिन्होंने इसे अंजाम दिया, उससे साफ है कि ये लोग सिर्फ अपराधी नहीं, बल्कि हैवान थे। मंदिर की देखभाल करने वाला ऐसे घृणित और जघन्य अपराध को अंजाम देगा, कोई सोच भी नहीं सकता! इतना ही नहीं, इस पुजारी ने अपने एक रिश्तेदार लड़के को भी फोन करके दूसरे शहर से बुला लिया था। विशेष पुलिस अधिकारी जिसे स्थानीय लोगों की मदद के लिए पुलिस की ओर से नियुक्त किया जाता है, वह ऐसे किसी के अपहरण और बलात्कार की साजिश रचेगा और गुनाह करेगा, और साथ में दूसरे पुलिस वाले इसके सबूत मिटाएंगे, यह पुलिसिया तंत्र का चेहरा दिखाने के लिए काफी है। सवाल है कि पुलिस कैसी सुरक्षा करती है अपने नागरिकों की! इससे भी शर्मनाक यह था कि इस कांड पर जम कर राजनीति हुई, इसे सांप्रदायिक रंग दे दिया गया। इसी तरह वकीलों ने आरोपियों के खिलाफ पुलिस को आरोपपत्र दाखिल करने से रोक दिया था। ऐसे में क्या इस गरीब पीड़ित परिवार के लिए न्याय संभव हो पाता!

हाल में अलीगढ़ के टप्पल में बच्ची की हत्या, भोपाल में दस साल की बच्ची से बलात्कार के बाद हत्या जैसी घटनाओं ने शर्मसार कर दिया। उज्जैन और जबलपुर में भी दो मासूमों का बलात्कार हुआ। ये सारी घटनाएं बताती हैं कि समाज में विकृतियां गहरे पैठी हुई हैं, हमारा शासन तंत्र भी कहीं न कहीं अपराधों की अनदेखी करता है। इसीलिए अपराधी बेखौफ हैं। कठुआ की घटना में अगर मिटाए गए सबूत भी अदालत के समक्ष होते तो अपराधियों को सजा कहीं ज्यादा कठोर मिलती। कठुआ कांड के दोषियों को सजा मिलना पीड़ित परिवार के लिए राहत हो सकती है, लेकिन ऐसी घटनाएं न हों और पुलिस तंत्र जिम्मेदार बने, दोषियों को बचाने के लिए किसी धर्म विशेष की ओर से रैलियां न निकाली जाएं, यह भी हमारे नीति-नियंताओं को सुनिश्चित करना होगा।

प्रतिरोध की चेतना

ऐसे लोग बहुत कम होते हैं जो सिनेमा की दुनिया में परदे की चकाचौंध के बीच भी अपने सरोकार को बचाए रख पाते हैं। गिरीश कर्नाड उन्हीं कुछ अजीम शख्सियतों में से एक थे, जिन्होंने बेशक सिनेमा के परदे से लेकर रंगमंच तक पर कई जरूरी कहानियों को जिंदा किया, लेकिन उसके साथ-साथ दुनिया के असली सवालों से भी मुठभेड़ की और जहां भी खड़ा होना उन्हें जरूरी लगा और मुमकिन हो सका, वहां अपनी मौजूदगी दर्ज कराई। जाहिर है, इस तरह का हौसला किसी शख्स के भीतर कोई एक दिन में नहीं आ जाता, बल्कि इसके पीछे बड़े जतन से लड़ी गई लड़ाइयां होती हैं, वक्त के साथ जद्दोजहद होती है और उससे पार निकल कर एक साफ नजरिए से बढ़े कदम होते हैं। गिरीश कर्नाड ने अपनी जिंदगी में तमाम ऐसी चुनौतियों और कसौटियों का सामना किया और साबित किया कि दुनिया की दीवारें और अड़चनें एक तरफ और उसके बरक्स खड़ा होना एक तरफ। यह बेवजह नहीं है कि अस्सी साल से ज्यादा की उम्र और कुछ गंभीर बीमारियों के बावजूद वे इंसानियत के हक में उठने वाली आवाजों के साथ खुद को खड़ा करने के लिए लंबी दूरी तय करके भी पहुंचते थे।

यों भी एक सच्चा कलाकार वक्त और भौगोलिक हदों के समांतर मानवीय हकों और मूल्यों को ज्यादा तरजीह देता है। 19 मई, 1938 को महाराष्ट्र के माथेरान में जन्म लेने वाले गिरीश कर्नाड ने धारवाड़ में कर्नाटक आर्ट कॉलेज से स्नातक किया था। आगे की पढ़ाई इंग्लैड में करने के बाद भारत लौटे। फिर चेन्नई में ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस में सात साल तक काम करने से लेकर शिकागो विश्वविद्यालय में प्रोफेसर भी रहे। लेकिन फिर रंगमंच में ही उनका दिल ठहरा। इसके अलावा, वे साहित्य और फिल्मों की दुनिया के साथ अपनी रचनात्मकता को कसौटी पर कसने लगे। कन्नड़ और अंग्रेजी दोनों में बराबर पकड़ रखने वाले गिरीश कर्नाड का पहला नाटक हालांकि कन्नड़ में था, लेकिन बाद में वह अंग्रेजी में भी मंच पर उतरा। थियेटर की दुनिया में मामूली दिलचस्पी रखने वाले भी 'हयवदन', 'तुगलक', 'ययाति', 'अंजु मल्लिगे', 'अग्निमतु माले', 'नागमंडल', 'अग्नि और बरखा' जैसे चर्चित नाटकों को हमेशा याद रखते हैं, जिनके विषय समाज की किसी न किसी जड़ता पर चोट करते हैं। खासतौर पर जाति और रूढ़ियों की जकड़न में बंधे समाज की बुनियाद पर उनके नाटकों ने जिस तरह प्रहार किया, वह उन्हें बरास्ते थियेटर किसी समाज सुधारक की भूमिका का परिचय देता है।

दूसरी ओर, फिल्मों की दुनिया में भी उनकी शुरुआत यूआर अनंतमूर्ति के उपन्यास 'संस्कार' पर बनी फिल्म से हुई, जो अपने आप में सामाजिक जड़ताओं से जूझने वाली रचना के तौर पर मशहूर है। समांतर सिनेमा के दौर में 'निशांत' और 'मंथन' जैसी फिल्मों में उनके अभिनय में मौजूद स्वाभाविकता की खासियत ने उन्हें अलग पहचान दी और बाद में उन्होंने व्यावसायिक फिल्मों में भी अपनी दमदार मौजूदगी दर्ज कराई। लेकिन उनकी जिंदगी का सफर जिन राहों से गुजरा, उसमें उन्हें जितना रंगमंच और सिनेमा के एक शानदार चेहरे के रूप में देखा जाएगा, उससे ज्यादा वे इसलिए याद किए जाएंगे कि उनकी दुनिया जमीन पर भी उतनी ही मुखर थी। अपने समय में सत्ता के सामने प्रतिरोध के एक मुखर स्वर के रूप में वे जिस दम के साथ खड़े रहे, वह अपने आप में यह बताने के लिए काफी है कि सुविधा के संसार की फिक्र छोड़ कर उन्होंने इंसानी मूल्यों की दुनिया, उसकी बहुलता और आजादी की चेतना का पक्ष चुना था और उसके लिए आवाज उठाने में वे कभी पीछे नहीं रहे।

कल्पमेधा

सुभाषित उन कीलों की भांति हैं जो सच्चाई को हमारी स्मरण शक्ति पर जड़ देती हैं।

-दिदरो

चुनौती बनते वायरस

संजय कुमार सिंह

पिछले कुछ सालों में जो वायरस संक्रमणजन्य बीमारियां सुनने में आई हैं उससे चिंता होती है कि इन सबके वायरस खत्म करने में कितना समय लगेगा और बर्ड फ्लू, स्वाइन फ्लू, इबोला, जीका, एचआइवी-एड्स आदि से गरीब देशों की जनता कब मुक्त हो पाएगी।

केरल में इन दिनों निपाह वायरस के संक्रमण के मामले सामने आए हैं। पुणे स्थित राष्ट्रीय विषाणु विज्ञान संस्थान (एनआइवी) ने जांच के बाद राज्य में कुछ मरीजों के इससे संक्रमित होने की पुष्टि भी कर दी है। यह वायरस चमगादड़ों के जरिए फैलता है। इसलिए राज्य के वन विभाग को भी सतर्क कर दिया गया है। इससे पता चलता है कि जानवरों के जरिए मनुष्यों में आने वाले ऐसे वायरस का मामला कितना गंभीर है और इससे बचना कितना मुश्किल। पिछले कुछ सालों में भारत, ब्राजील सहित कई विकासशील और खासतौर से अफ्रीकी देश किसी न किसी वायरस के हमले की चपेट में आते रहे हैं। चिंताजनक बात तो यह है कि वायरसों का यह हमला तेजी से होता है और जल्द ही आबादी के बड़े हिस्से को अपनी जद में ले लेता है। निपाह वायरस का पहला मामला भारत में 2001 में सामने आया था जब मलेशिया के जरिए यह वायरस भारत पहुंचा था। उस समय पश्चिम बंगाल के सिलीगुड़ी में इसके छियासठ मामले सामने आए थे, जिनमें से पैंतालीस लोगों की मौत हो गई थी। इसलिए इस बार इससे बचने में पूरी सावधानी बरती जा रही है।

इससे पहले 2014 में इबोला वायरस के हमले ने भी सरकार की नींद उड़ा दी थी। हालांकि इसके प्रकोप को रोक लिया गया था। इबोला वायरस संक्रमित जानवर जैसे बंदर, सूअर या एक खास प्रजाति की चमगादड़ के खून या शरीर के तरल पदार्थ के संपर्क में आने से फैलता है। माना जाता है कि चमगादड़ स्वयं प्रभावित हुए बिना इस वायरस को रखते और फैलाते हैं। जब यह संक्रमण मनुष्यों में फैल जाए तो फिर यह बीमारी मनुष्यों के बीच फैल सकती है और महामारी का रूप ले सकती है। इससे बचाव का रास्ता यही है कि संक्रमित बंदरों और सुअरों से यह बीमारी मनुष्य में न फैलने दी जाए। जानवरों में संक्रमण की जांच करके और संक्रमण पाए जाने पर उनके शरीर को समुचित तरीके से नष्ट करके ही इसकी रोकथाम की जा सकती है। पर ऐसे संक्रमित जानवरों को खत्म करना आसान नहीं है। वैसे तो इन जानवरों के मनुष्यों के बीच या उनके संपर्क में रहने का कोई कारण नहीं है, पर भिन्न कारणों से इन्हें मारने पर रोक है और वैसे भी कुत्ते-बंदर आदि आम लोगों को परेशानी का कारण बन जाते हैं। इतना ही नहीं, इनके काटे से बचाव की दवा भी सरकारी अस्पतालों में आमतौर पर उपलब्ध नहीं होती है।

एड्स, पोलियो, पीलिया या हेपेटाइटिस, खसरा, डेंगू, इन्फ्लूएंजा, छोटी माता आदि बीमारियां वायरस संक्रमण के कारण ही होती हैं। आंखों में ट्रेकोमा भी वायरस के कारण होता है, जबकि रेबीज कुत्ते या बंदर के काटने से होता है। मैनिनजाइटिस, हर्पीज, गलशोथ और चेचक जैसी बीमारियां विषाणुओं से फैलती हैं। इन्हें रोकने और खत्म करने की कोशिश चल रही है। चेचक को तो लगभग रोका जा चुका है और पोलियो खत्म होने के कगार पर है। फिर भी वायरसों के कारण होने वाली बीमारियां मनुष्य के लिए गंभीर चुनौती तो हैं ही।

अभी तो हम कई सालों से पोलियो का वायरस खत्म करने में लगे हैं। पिछले कुछ सालों में जो वायरस संक्रमणजन्य बीमारियां सुनने में आई हैं उससे चिंता होती है कि इन सबके वायरस खत्म करने में कितना समय लगेगा और बर्ड फ्लू, स्वाइन फ्लू, इबोला, जीका, एचआइवी-एड्स आदि से गरीब देशों की जनता कब मुक्त हो पाएगी। इस तथ्य के मद्देनजर देखा जाना चाहिए कि जीका वायरस का पता 1947 में युगांडा में चला था जो 2015 में लैटिन अमेरिकी देश, खासकर ब्राजील में फैल गया। 1973 के बाद से दुनिया में विषाणु से फैलने वाली तीस नई बीमारियां सामने आई हैं। वायरस से बीमारी की समस्या बहुत आम है और यह मुर्गों से भी फैलता है। तब तो मुर्गों को नष्ट कर दिया जाता है क्योंकि वे खाने के लिए होते हैं और बीमार जानवर या पक्षी का मांस खाना खतरे से खाली नहीं है। लेकिन सरकारें ऐसे उपाय करने में नाकाम रहती हैं कि यह संक्रमित खाद्य लोगों तक न पहुंच पाए। इसी का नतीजा होता है कि संक्रमित मांस ऐसे वायरसों को तेजी से फैला देता है।

नगरों-महानगरों में मनुष्यों को परेशान करने वाले जानवर पहले कुत्ते और बंदर ही थे। अब गाएं

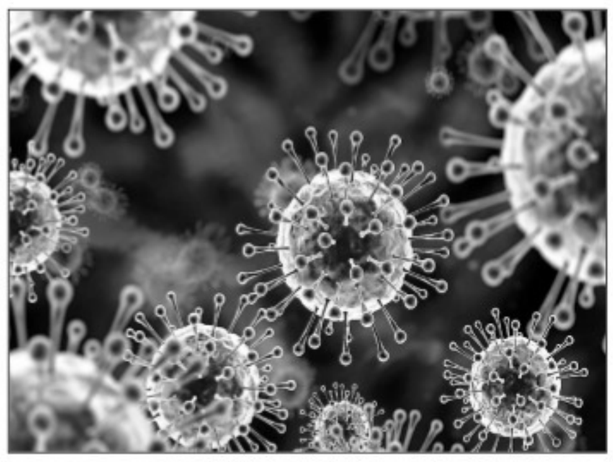

और सांड़ भी हैं। समस्या इनकी मौजूदगी नहीं है। असली समस्या इनसे बचाव के उपाय न होना है। गायों के झुंड का सड़कों पर बैठा होना बहुत आम है और इसी तरह सड़क पर कुत्ते या किसी और जानवर के चले आने से दुर्घटनाएं आम हैं। जब हम इनसे बचने के साधारण और लगभग जरूरी उपाय नहीं कर पाते हैं तो कभी-कभी होने वाले वायरस से निपटने के उपाय कमजोर होंगे ही। यह सही है कि जानवरों को भी जीने का हक है और मनुष्य अपनी शक्ति व योग्यता का उपयोग कर उन्हें मार दे, यह उचित नहीं है। पर इनसे बचाव के उपाय तो होने ही चाहिए। जब बचाव के उपाय मार देने से महंगे हों तो ये उपाय सरकार को ही करने चाहिए। पर इसमें सरकारी लापरवाही साधारण नहीं है।

वैसे तो संक्रामक रोग किसी को और कभी भी हो सकते हैं। लेकिन आमतौर पर बरसात में संक्रामक बीमारियां फैलती हैं। हालांकि इसका संबंध वर्षा से कम, साफ सफाई से ज्यादा है। साफ-सफाई पर्याप्त नहीं होने के कारण बरसात में हर तरफ गंदगी व सड़ांध फैली होती है। वायरस संक्रमण के लिए यही सबसे उपयुक्त काल होता है। गरीब देश के लोग मौसम की मार से वैसे ही त्रस्त होते हैं और अच्छा खान-पान न होने के कारण उनकी रोग प्रतिरोधक क्षमता भी कम होती है। इसलिए, बरसात में ये वायरस जनित बीमारियां ज्यादा फैलती हैं और अमूमन ऐसा गरीब देशों में होता है। तकनीकी तौर पर कहा जा सकता है कि सावधानी बरत कर काफी हद तक इनसे बचना संभव है। सफाई तो हम अपनी और अपने घर की कर सकते हैं, लेकिन घर के आसपास और सड़क, नाले, बाजार और अस्पतालों से निकलने वाला कचरा गंभीर समस्या है। सरकारें और स्थानीय निकाय इसके प्रति लापरवाह ही रहते हैं।

एक बड़ी समस्या शिक्षा और अफवाहों से बचने की भी है। शिक्षा न होने के कारण लोग अफवाहों के फेर में आसानी से पड़ जाते हैं और इसका असर होता है कि जिन बीमारियों और वायरस से बचाव के लिए टीकाकरण या दवाइयां उपलब्ध हैं, लोग उनका भी सेवन नहीं करते हैं। सरकारी अभियान का विरोध भी होता है और सरकार इसका ढंग से मुकाबला भी नहीं कर पाती है। इससे नुकसान यही होता है कि सारी समस्याएं टलती जा रही हैं और अनुकूल स्थिति का इंतजार किया जा रहा है।

भारत में जानलेवा बीमारियों के वायरस आते रहते हैं। दूसरे देशों से आए संक्रमित लोगों, खाद्य पदार्थों या फिर अन्य किसी तरह से, भारत में ऐसे वायरसों का हमला होता रहा है। बस, बात यही है कि कुछ अपना काम कर जाते हैं, कुछ बेअसर रहते हैं। लेकिन पूरी सरकारी मशीनरी को तो सतर्क होना ही होता है। पिछले साल इन्हीं दिनों दक्षिण भारत के राज्यों में निपाह वायरस की चर्चा थी। तब इस वायरस और इस कारण होने वाली बीमारी से बचने का टीका नहीं था। हालांकि इससे बचने के उपाय बताए गए थे, लेकिन इसे देश भर में समय रहते आम आदमी तक पहुंचाना भारी मुश्किल है। ऐसे में वायरसों से होने वाला संक्रमण एक बड़ी चुनौती तो है ही।

बाजार में नैतिकता

सन्नी कुमार

दुनिया मेरे आगे

कोई संदेश अपने आप में कितना भी निर्दोष या बेहतरीन क्यों न हो, लेकिन संदिग्ध संदेशवाहक उसके औचित्य को संदेहास्पद बना ही देता है। मसलन, कोई हथियार सौदागर शांति के महत्त्व पर भले ही खूब अच्छी बातें कर लेता हो, मगर इस मामले में उसकी नैतिकता संदिग्ध ही रहेगी, क्योंकि उसका व्यापार ही शांति के विरोध में है। इसी प्रकार, जब बाजार की कोई एजेंसी स्त्री समानता जैसे 'बोझ' को अपने कंधे पर ढोने का दावा करती है तो स्वाभाविक रूप से उसकी नीयत पर शक होता है। जिसका अस्तित्व ही स्त्रियों के वस्तुकरण पर टिका है, वह आखिर क्यों इसके विरुद्ध काम करेगा! दरअसल, आजकल 'कॉन्ट्रासेप्टिव' बनाने वाली एक कंपनी 'ऑर्गेज्म इनइक्वलिटी' को लेकर अभियान चला रही है। हालांकि पश्चिमी देशों में काफी समय से इसे लेकर बात हो रही है। लेकिन ताजा अभियान का केंद्र जिनके हाथों में है, उसमें इसके उद्देश्य को लेकर कुछ संशय स्वाभाविक है। इस संदर्भ में बरबस एक प्रसंग याद आता है।

बीसवीं सदी के शुरुआती दशक में पश्चिमी दुनिया नारीवाद की पहली लहर महसूस कर रही थी। इसी दौर में वहां 'टॉर्च ऑफ फ्रीडम' नाम से एक आंदोलन चला जो स्त्री-पुरुष समानता स्थापित करने के उद्देश्य से स्त्रियों में धूम्रपान को बढ़ावा देने की बात करता था। इस आंदोलन का मानना था कि ऐसा करने से उस 'सामाजिक निषेध' का प्रतिकार होगा जहां सिगरेट पीना पुरुषों के लिए ठीक, पर महिलाओं के लिए बुरा माना जाता था। स्त्रियां हाथ में जलती सिगरेट लेकर जुलूस निकालती थीं और इसे 'अधिकारों की मशाल' भी कहा गया। अब इस मशाल से स्त्रियों की दुनिया जगमगाई या उनका देह ही जली, इसका अंदाजा लगाना मुश्किल नहीं है। मगर एक यह तथ्य उस समूचे आंदोलन को सवालों के घेरे में खड़ा करता है कि इस आंदोलन को हवा देने वाला एडवर्ड बर्नेस ऐसा किसी समानता को प्राप्त करने के उद्देश्य से नहीं, बल्कि एक सिगरेट कंपनी की बिक्री बढ़ाने के लिए कर रहा था। इसका उद्देश्य समानता स्थापित करना नहीं था। इसी तरह, वर्तमान में जब बाजार की एजेंसी कोई दावा कर रही है तो उसे सही परिप्रेक्ष्य में देखना जरूरी हो जाता है।

दरअसल, समय के साथ बाजारवाद ने अपने हिसाब से मानव जीवन के मानक को निर्मित कर देने में काफी सफलता प्राप्त कर ली है। विषुवतीय प्रदेश के लोगों में गोरा होने को सुंदर होने का पर्याय माने जाने का सौंदर्यबोध विकसित करना हो या आमतौर पर 'फिट' होने के नाम पर स्वस्थ शरीर को एक विशेष आकार में ढली शारीरिक संरचना से प्रतिस्थापित कर देना हो, बाजारवाद की सफलता चारों ओर देखी जा सकती है। दिलचस्प है कि बाजारवाद अपने ऐसे हर कदम का औचित्य सिद्ध करने के लिए कोई न कोई नैतिक सहारा अवश्य लेता है। कभी यह सुंदरता, कभी स्वस्थ जीवन तो कभी रूढ़ियों के निषेध की ओट में यह अपना हित साधने की कोशिश करता है। इसी तरह, यौन विषयों से संबंधित अपने उत्पाद की बिक्री का औचित्य सिद्ध करने के लिए वह इसे लेकर प्रचारित भ्रांतियों को दूर करने का दावा करता है। यह ठीक है कि भारत जैसे देश में अभी भी यौन विषयों पर अपेक्षित सहजता नहीं है, लेकिन इसे ठीक करने का जिम्मा उन्हें नहीं दिया जाना चाहिए, जिनका उद्देश्य भ्रांतियों का शमन नहीं, उत्पाद बेचना हो या उसके लिए आधारशिला तैयार करनी हो।

जहां तक 'ऑर्गेज्म इक्वलिटी' की धारणा का सवाल है तो यह एक तरह से नितांत निजी मानवीय क्षणों में बाजार के प्रवेश कर जाने जैसा है। यहां इस अंतर को समझना होगा कि इन निजी क्षणों में दोनों जेंडर की समान भागीदारी एक अनिवार्य शर्त है, मगर इसे निर्धारित करने का नैतिक हक बाजार को दे देना एक बिल्कुल नए तरह की समस्या को जन्म देना है। हमें समझना होगा कि एक तरफ जहां सामाजिक रूढ़ियां यौन संबंध में सहमति से लेकर तमाम अन्य पक्षों में स्त्रियों को समानता से वंचित करती हैं तो दूसरी ओर बाजार यौनिक अनुभूति के कृत्रिम मानक बना कर शोषण के नए नियम बनाता है। समानता स्थापित करने के लिए दोनों के चेहरे पर पड़ा पर्दा हटाना होगा। बाजार ने संबंधों में खुलेपन के नाम पर लगातार जिस तरह की अपेक्षाओं को विकसित करने की कोशिश की है, उसमें पोर्न इंडस्ट्री या अश्लील फिल्मों के कारोबार ने प्रभावी भूमिका निभाई है। इसलिए बाजार की ऐसी हर कोशिश को काफी सावधानी से परखने की जरूरत है।

स्त्री-पुरुष के बीच समानता स्थापित करने का दावा करने वाले ऐसे आंदोलन दरअसल मूल प्रश्न तक कभी जाते ही नहीं। दरअसल, इसका सबसे उचित समाधान जीवन के विविध क्षेत्रों और मानसिक दृढ़ता के स्तर पर स्त्री-पुरुष समानता है, ताकि वे अपने हक में बेहतर निर्णय ले सकें, न कि किसी कंपनी का ऐसा मानक, जिसे पाने के लिए उसका उत्पाद खरीदना जरूरी हो जाए। बाजार मानव जीवन की निजता में न घुस पाए, इसके लिए समाज को अपनी भूमिका निभानी पड़ेगी। समाज अपनी भूमिका में जितना कमजोर होगा, बाजार को उतना ही मौका मिलेगा और उसका हस्तक्षेप उतना ही मजबूत होगा। समय के साथ यह नैतिक भी लगने लगेगा।

दरिंदगी के विरुद्ध

दरिंदगी को अक्सर हम युगों से जोड़ कर नापते हैं। इसे नापेंगे तो हमें मध्ययुग के पीछे उस कालखंड में जाना पड़ेगा जो सभ्यताओं के भी पीछे का आदिम युग कहलाता है। हजारों हजार वर्षों का सफर तय करने के बाद भी दहशत और पशुता का वही चेहरा फिर-फिर हकीकत बन कर सामने आ खड़ा होता है। और तिस पर हम अपने-अपने चश्मे लगा कर इन घृणित और विद्रूप चेहरों को शर्मनाक तरीके से बांटने और छांटने लगते हैं। कुछ चुनी हुई मिसालों को आगे रख कर उस खेमे के लोग इन पर हिंदू सांप्रदायिकता या हिंदू बहुसंख्यकवाद का ठप्पा लगा देते हैं, तो कुछ खास घटनाओं को अलग करके इस खेमे के लोग उछल पड़ते हैं कि देखा, मैंने पहले ही कहा था इस्लाम बर्बरता और वहशत का पर्यायवाची है!

आप देखेंगे तो इस तरह की विडंबना पूर्ण घटनाओं में जबरदस्त 'सर्वधर्म समन्वय' दिखाई देगा। कहीं गुजरात दंगे, कहीं निर्भया, कहीं कठुआ तो कहीं अलीगढ़ की दरिंदगी की शिकार बच्चियां नजर आएंगी। सुदूर अतीत में जाने पर विभाजन के वक्त में मासूमों के खून से रंगे सरहदी इलाके दिखाई देंगे। समझ नहीं आता कि इन लोम सिहरक घटनाओं को अंजाम देने के जुनूनी, आदमखोर और हृदयहीन क्षणों में कोई व्यक्ति या समूह किसी मजहब के दर्शन का प्रतिनिधि कैसे हो सकता है? और अगर उसे प्रतिनिधि मान लिया जाए तो इससे क्या यह बात साबित नहीं हो जाती है कि सभी मजहब वहशत को रोकने में बुरी तरह नाकाम हुए हैं? अगर आपके और हमारे दिलों में सभ्य मानव समाज के लिए जरा भी चिंता बाकी है तो हमें आज से ही, बल्कि अभी से तमाम मजहबी ढकोसलों को बंद कर देना चाहिए। ऐसे में कवि कुमार विकल की कुछ पंक्तियां शिद्दत से याद आने लगती हैं- 'मैं चाहे कृपाण से मरूं या त्रिशूल से/ या किसी भीड़ से/ लेकिन मरने से पहले/ चिल्लाऊंगा जरूर/ कि मजहब ही है सिखाता आपस में बैर रखना!'

आपको लग रहा होगा कि यह एक अतिवादी स्थापना है। लेकिन यह स्थापना उसी संकुचित सोच की अनिवार्य तार्किक परिणति है जिसके तहत हम ऐसे घृणित कृत्यों को धर्म या मजहब से जोड़ कर देखने और दिखाने लगते हैं। या फिर एक दूसरा रास्ता यह बचता है कि ऐसे कृत्यों को धर्म से जोड़ने के बजाय इन्हें मानवता विरोधी कृत्य के तौर पर देखा जाए और सभ्यता के पक्ष में खड़े होकर पुरजोर तरीके से ऐसी बर्बरताओं को एक सुर से खारिज किया जाए!

● *राहुल मिश्रा, विकास कॉलोनी, चिरगांव, झांसी*

धनतंत्र

भारत में चुनाव कराना अपने आप में एक बहुत बड़ी चुनौती है। जनसंख्या उस चुनौती को और बढ़ा रही है। चुनाव खर्च 62 साल में 370 गुना बढ़ गया है। एक रिपोर्ट के मुताबिक इस खर्च ने 2016 के अमेरिकी राष्ट्रपति चुनाव को पीछे छोड़ दिया है। बढ़ते चुनाव खर्च को देखते हुए इस बात पर चिंता व्यक्त की जाने लगी है कि क्या संसद में सिर्फ वही लोग पहुंच सकते हैं, जिनके पास पैसा है? क्या अमीर ही जनता का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं? इन सबके लिए चुनाव आयोग भी सवालों के घेरे में है जिसने चुनाव आचार संहिता के नियम 90 में हाल ही में परिवर्तन किया है। आयोग ने लोकसभा और विधानसभा के लिए चुनाव खर्च की सीमा को बढ़ा दिया है। अगर चुनाव खर्च पर लगाम नहीं लगाई गई तो लोकतंत्र सिर्फ पैसे वालों का तंत्र बन कर रह जाएगा।

● *तानिया पाठक, केएमवी, जालंधर*

घाटे का खत

लोकसभा चुनाव के दौरान और उसके बाद भी पश्चिम बंगाल में भारतीय जनता पार्टी और तृणमूल कांग्रेस एक-दूसरे पर निशाना साध रहे हैं। भाजपा के नेता और कार्यकर्ता जहां तृणमूल कांग्रेस की प्रमुख और पश्चिम बंगाल की मुख्यमंत्री ममता बनर्जी को 'जय श्रीराम' लिखे दस लाख पोस्टकार्ड भेज रहे हैं तो वहीं तृणमूल कांग्रेस, भाजपा के नेताओं को 'जय बांग्ला, जय काली' लिखे बीस लाख पोस्टकार्ड भेज रही है। इस पूरी सियासी कवायद में लगभग 30 लाख पोस्टकार्ड दोनों दल एक-दूसरे को भेज रहे हैं। एक खबर के अनुसार दोनों दलों की इस राजनीतिक लड़ाई में केंद्र सरकार को 3.53 करोड़ रुपए का नुकसान हो रहा है। यह पैसा देश की जनता का है जिससे दोनों दल अपना सियासी हित साध रहे हैं।

डाक विभाग की 2017 की एक रिपोर्ट के मुताबिक एक पोस्टकार्ड पर सरकार की लागत 12.15 रुपए आती है लेकिन वह जनता के हित के लिए इसे सिर्फ पचास पैसे में भेजती है। यानी हर पोस्टकार्ड पर सरकार को 11.75 रुपए का घाटा उठाना पड़ता है। यह घाटा सरकार जनता को सुविधा देने के लिए उठाती है। अब अगर दोनों दल अपनी राजनीतिक लड़ाई पोस्टकार्ड के जरिए लड़ेंगे तो इससे केंद्र सरकार को 3.53 करोड़ रुपए का घाटा होगा। इसी साल अप्रैल में खबर आई थी कि डाक विभाग भारी घाटे में है। बताया गया था कि सरकारी क्षेत्र के उपक्रमों में भारतीय डाक का घाटा सबसे अधिक हो गया है। 'फाइनेंशियल एक्सप्रेस' की रिपोर्ट के मुताबिक 1854 से चल रहे भारतीय डाक में घाटे के कारणों में से एक पोस्टकार्ड, पार्सल, बुक पोस्ट, स्पीड पोस्ट और दूसरी सेवाओं में दी जानी वाली सब्सिडी भी है।

● *प्रियंवदा, गोरखपुर, उत्तर प्रदेश*

हिंदी के सहारे

यदि हिंदी की उपयोगिता को देखते हुए उसके प्रचार-प्रसार की कोई पहल की जाती है तो आखिर इसमें किसी को आपत्ति क्यों होनी चाहिए? आपत्ति करने वालों को इस सच्चाई से परिचित होना चाहिए कि दक्षिण और पूर्वोत्तर भारत के लोगों के लिए हिंदी एक आवश्यकता बन गई है। आज जब नौकरी, व्यापार आदि के कारण हर प्रांत के लोगों की देश के दूसरे हिस्सों में आवाजाही और साथ ही बसाहट बढ़ती जा रही है तब यह समय की मांग है कि संपर्क भाषा का पर्याय बन गई हिंदी को सहर्ष अपनाया जाए। कई राज्यों ने ऐसा ही किया है और इनमें अरुणाचल सबसे बढ़िया उदाहरण है। इस उदाहरण की अनदेखी करना सच से मुंह मोड़ना ही है।

● *हेमंत कुमार, गोराडीह, भागलपुर, बिहार*

चौपाल

किसी भी मुद्दे या लेख पर अपनी राय हमें भेजें। हमारा पता है : ए-8, सेक्टर-7, नोएडा 201301, जिला : गौतमबुद्धनगर, उत्तर प्रदेश

आप चाहें तो अपनी बात ईमेल के जरिए भी हम तक पहुंचा सकते हैं। आइडी है : chaupal.jansatta@expressindia.com